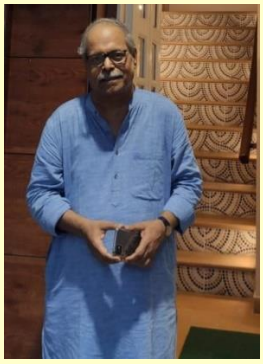

अशोक भौमिक
चर्चित चित्रकार एवं लेखक
गुड़गांव, हरियाणा
फोन - 9811120184
ईमेल – bhowmick.ashok@gmail.com

**भारतीय चित्रकला में परंपरा, प्रयोग और नवाचार**

भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक लम्बे समय तक चित्रकार की भूमिका, शिल्पकार या क्राफ्ट्समैन की रही है। शिल्पकार और चित्रकार में मूलभूत अंतर उनके रचने की स्वतंत्रता में निहित है। चित्रकला वास्तव में एक चित्रकार की स्वतंत्र अभिव्यक्ति होती है अर्थात, वह स्वयं यह तय करता है कि चित्र में उसे 'क्या' बनाना है, साथ ही वह यह भी तय करता है कि उसे चित्र 'कैसे' बनाना है। चित्र रचना की प्रक्रिया में ये दोनों पक्ष स्वतंत्र और समान रूप से महत्त्वपूर्ण होते हैं जिसे एक चित्रकार स्वयं तय करता है और इस प्रकार चित्रकार के अस्तित्व के साथ 'स्वतंत्रता' अनिवार्य रूप से जुड़ी रहती है। सृजन के पहले स्तर पर, चित्रकार अपने जीवन के अनुभवों, विचारों और दृष्टि से एक चित्र की कल्पना करता है। यह प्रक्रिया कभी जटिल और लम्बी होती है, तो कभी सरल और स्वतःस्फूर्त। चित्रकला में सृजन का यह पक्ष आम दर्शकों से अदृश्य होता है।रचना के दूसरे स्तर पर चित्रकार अपने अर्जित 'कौशल' से अपनी कल्पना को रूप देने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में चित्रकार अपने चिंतन और अमूर्त कल्पना को अपने चित्र में मूर्त करते हुए, उसे एक 'मुहूर्त' या 'ठहरे हुए क्षण' में तब्दील कर देता है। चित्र में जो कुछ दृश्य होता है, वह चित्रकार की रेखाओं, संरचना, रंग संयोजन, प्रकाश व्यवस्था आदि के मौलिक और संतुलित प्रयोग से आकर्षक हो उठता है। लेकिन यहाँ हमें इस सत्य पर भी ध्यान देना चाहिए कि एक चित्र, चित्रकार की उत्कृष्ट कल्पना और कौशल के बावजूद दर्शकों की प्रतिक्रिया समान नहीं होती है और एक चित्र अपने सभी दर्शकों में समान 'अनुभूति' नहीं पैदा कर सकता। अर्थात चित्रकार को जिस प्रकार रचने की स्वतंत्रता होती है ठीक उसी प्रकार दर्शक को किसी चित्र को स्वीकार या अस्वीकार करने की आजादी होती है। सृजन की इस धारा से भिन्न भारतीय चित्रकला (मूर्तिकला) में कलाकारों को यह स्वतंत्रता नहीं मिली कि वह ये तय कर सके कि उसे 'क्या' बनाना है। उदाहरण के लिए, अजंता-खजुराहो-कोणार्क आदि के चित्र और मूर्तियों की कल्पना किसी और के द्वारा की गई थी जिसके निर्देश पर कलाकारों ने अपने कठिन श्रम और उत्कृष्ट कौशल से इन ऐतिहासिक कलाकृतियों का निर्माण किया था। इस प्रकार ये चित्रकार/ मूर्तिकार निस्संदेह उच्च कोटि के कारीगर शिल्पकार या क्राफ्ट्समैन थे लेकिन उन्हें सृजन की स्वतंत्रता नहीं थी।उदाहरण के लिए, अजंता, भरहुत, सांची में बुद्ध के जीवन से से जुड़ी हुई जिन कथाओं का चित्रण है, वह पूरी तरह से धर्म संस्थान द्वारा प्रायोजित, एक पूर्व निर्धारित उद्देश्य को मूर्त करने के लिए बनी कला है जहाँ कलाकारों के 'कौशल' का बखूबी इस्तेमाल किया गया है लेकिन इन कृतियों के विषय चयन में कलाकारों की कोई भूमिका नहीं थी। दूसरी ओर दर्शक को भी यह स्वतंत्रता नहीं थी कि वह अपने ढंग से किसी चित्र को देखे या अनुभव करे। चित्र के बाहर, कथा-सन्दर्भों और व्याख्याओं से

दर्शकों को परिचित कराया जाता था और उसी के दायरे में ही एक दर्शक, चित्र देखने को बाध्य होते थे। भारतीय चित्रकला के संदर्भ में परंपरा, प्रयोग और नवाचार को समझने के लिए उपरोक्त पहलुओं पर ध्यान देना जरूरी है।

***

भारतीय चित्रकला के संदर्भ में हम मोटे तौर पर तीन चित्रकला धाराओं को चिन्हित कर सकते हैं। आज की भारतीय चित्रकला में आदिवासी कला, लोक कला और शहरी कला धाराएं समान रूप से अस्तित्व में हैं। आदिवासी और लोक कलाओं में जहाँ परंपरा से जुड़े रहना उनकी पहचान होती है, वहीं शहरी कलाकारों का अस्तित्व उनके उन्मुक्त होने में होता है। एक शहरी चित्रकार अपनी रचनाओं में फॉर्म, संरचना और रंग संयोजन आदि के मौलिक प्रयोग से अपनी व्यक्तिगत पहचान बनाता है और उसी विशिष्ट पहचान के कारण ही वह 'सफल' और 'महत्त्वपूर्ण' कलाकार के रूप में जाना जाता है। इसके विपरीत जो अपनी रचनाओं में इस विशेषता को स्थापित नहीं कर पाते, वे गौण मान लिए जाते हैं। विश्व भर में नगरीय चित्रकला को व्यक्तिगत शिल्पकर्म के रूप में जाना गया है लेकिन, युगों से राज्य और धर्म संस्थानों द्वारा संचालित चित्र एवं मूर्तिकला मूलतः, सामूहिक कलाकर्म ही रही है जहाँ कृति के साथ कलाकारों का उल्लेख नहीं होता बल्कि वे कृतियाँ, उनके प्रायोजकों के नाम से ही जानी जाती हैं। लम्बे समय तक भारतीय चित्रकला, एक सामूहिक शिल्पकर्म रहा है। अजंता, एलोरा, भरहुत, खजुराहो, कोणार्क जैसी भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला की उत्कृष्ट कृतियों में हम इस 'सामूहिकता' को स्पष्ट देख पाते हैं। भारतीय कला के इस दौर में वास्तु या भवन निर्माण कला में ही मूर्तिकला और चित्रकला अभिन्न रूप से जुड़ी रही है लेकिन समय गुजरने के साथ-साथ तीन बातें हमें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। पहला कृतियों का आकार छोटा होना (भित्ति चित्रों से लघु चित्रों की ओर जाना)। दूसरा, वास्तु या भवन निर्माण कला से चित्रकला का स्वतंत्र होना और तीसरा, चित्रकला का 'सामूहिक' से 'व्यक्तिगत' कलाकर्म की ओर बढ़ना। यहाँ हम यह भी देख पाते हैं कि सामूहिक सृजन न केवल भारतीय चित्रकला के केंद्र में रहा है, बल्कि कलाकृतियों के निर्माण का उद्देश्य सार्वजनिक प्रदर्शन था, अर्थात एक ही वक़्त में अनेक जन एक साथ किसी कृति को देख सकें, इसका प्रयास था। भारतीय चित्रकला में भित्ति चित्र से लघु चित्र का विकास, सामूहिकता से व्यक्ति केन्द्रित चित्रकला की विकास यात्रा है। समय गुजरने के साथ-साथ चित्रकला, एक व्यक्ति या बेहद छोटे समूह ( जो प्रायः राजा और उनके आसपास के लोगों तक सीमित थे) के लिए समर्पित कलाकर्म के रूप में विकसित होती दिखी। मुगल काल की चित्रशालाओं में हालाँकि कई चित्रकारों को एक साथ काम करते हुए देखा जा सकता है लेकिन चित्रकारों पर शैलीगत दबाव के कारण किसी चित्रकार को उसकी विशेषताओं के आधार पर स्वतंत्र रूप से चिन्हित नहीं कर पाते। मुगल काल के बाद कई स्थानीय शासकों ने अपने दरबार में चित्रकारों को नियुक्त किया, जिन्होंने मूलतः अपने अन्नदाताओं के जीवन की आम और ख़ास घटनाओं के चित्रण तक ही अपनी कला को सीमित रखा। हालाँकि इसके बावजूद, इस दौर में हम भारतीय चित्रकला में सामूहिक सृजन की परंपरा से निकलकर, चित्रकार को एक स्वतंत्र रचनाकार के रूप में विकसित होते हुए पाते हैं। चित्रों को, उनके चित्रकारों के साथ जोड़कर देखने की परंपरा की शुरुआत को हम मुगल काल और उसके बाद स्थानीय शासकों के दरबारी कलाकारों में देख सकते हैं। भारतीय चित्रकला के विकास क्रम में एक स्वतंत्र चित्रकार का अस्तित्व में आना निस्संदेह एक बड़ी बात है। अपनी कलाकृति पर हस्ताक्षर करने का चलन मुगल काल से (कुछ हद तक दबे-छुपे) दिखने लगी थी लेकिन यह कभी भी चित्र के साथ अनिवार्य रूप से नहीं जुड़ी थी।

भारतीय चित्रकला में 'कंपनी स्कूल' के एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण के रूप में लेडी मेरी इम्पे द्वारा अपने भारत प्रवास के दौरान (1777 से 1782) बनवायी गई पशु-पक्षियों के चित्रों की श्रृंखला मिलती है, जहाँ उनके द्वारा नियुक्त किये गए तीन चित्रकारों शेख जैन-अल दीन, भवानी दास और रामदास के हस्ताक्षर उनकी कृतियों के साथ जुड़े हुए हैं। कुछ हद तक, लेडी इम्पे की इस शृंखला से ही भारत में, चित्रों के चित्रकारों द्वारा हस्ताक्षरित होने की परंपरा की 'विधिवत' शुरुआत मानी जा सकती है।चित्र में हस्ताक्षर का महत्त्व इसलिए भी है कि चित्र के अच्छे या बुरे होने की पूरी जिम्मेदारी, चित्रकार अपने ऊपर लेता है। विश्व भर में चित्रकला में 'प्रयोग' का उद्देश्य, प्रायः अपने समकालीनों से भिन्न, अपनी एक स्वतंत्र पहचान बनाने का रहा है। लोक और आदिवासी चित्रकला में चित्रकार की पहचान का कोई महत्त्व नहीं होता, वहाँ एक प्रांत विशेष की कला की शैलीगत विशेषता को बनाये रखने का आग्रह सर्वोपरि होता है। साथ ही उनकी रचनाएँ प्रायः किसी प्रान्त विशेष के सामाजिक या धार्मिक रस्म-रिवाज़ों से गहरे जुड़ी होती हैं इसलिए इनमें स्थापित प्रतीकों की पुनरावृत्ति अनिवार्य रूप से देखी जा सकती है। लोक और आदिवासी कलाओं की पहचान, उनकी अपनी परंपरा से सघन रूप से जुड़े रहकर उसे आगे बढ़ाने में है।उदाहरण के लिए वारली,

मधुबनी और गोंड जैसे कला रूपों को यदि देखा जाय तो हम देख सकते हैं कि उनकी शैली ही उनकी पहचान है और जो सदियों से अपरिवर्तनीय रही है।

***

आधुनिक भारतीय चित्रकला पर बार-बार अपनी परंपरा या जड़ों से कटे होने का आरोप लगता है। बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में बंगाल स्कूल के कलाकारों ने चित्रकला में 'भारतीयता' की खोज करते हुए भारतीय कला के इतिहास को समझने की कोशिश की थी।इस कोशिश में चार सौ वर्ष पहले मुगल लघु चित्रों का गंभीर विश्लेषण करने के बजाय उन्होंने सहज 'अनुकरण' का रास्ता लिया। इस तथ्य को अबनीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र 'शाहजहां की मृत्यु' (चित्र-1)

(चित्र – 01)

को देखकर सहज ही समझा जा सकता है। अपनी परंपरा की खोज में, बंगाल स्कूल के कलाकारों ने अजंता और बाघ की गुफाओं की भी यात्रा की थी और वहाँ के भित्ति चित्रों का अध्ययन किया था लेकिन इसके परिणाम में भी अजंता शैली का अनुकरण ही दिखा।असित कुमार हालदार के चित्रों में हम इस प्रभाव को स्पष्ट देख सकते हैं (चित्र-2)।

(चित्र -02)

वास्तव में, चित्रकला में परंपरा के साथ जुड़ने का अर्थ केवल रूप या फॉर्म के साथ ही जुड़ना नहीं होता; अंतर्वस्तु या कंटेंट से मुक्त होना और नए विषय को तलाशना भी आवश्यक होता है। बंगाल स्कूल के कलाकार, अजंता की कला से रूप और अंतर्वस्तु को अलग नहीं कर सके और एक शताब्दी ईसा पूर्व, देवालय के लिए बनाए गए अजंता के चित्रों को बीसवीं सदी के आधुनिक कलकत्ते शहर में बैठे अनुकरण करने का अवैज्ञानिक प्रयास किया गया। ऐसा ही कुछ, हमें अबनींद्रनाथ ठाकुर के चित्रों में भी दिखता है। देवी देवताओं की लीला कथाओं पर बनाए गए चित्रों की भारतीय परंपरा ने उन्हें वर्तमान से काट दिया। बंगाल के नवजागरण काल के बीच खड़े और बंगाल के विभाजन जैसी राजनैतिक उथल-पुथल भरे समय में कार्यरत इन चित्रकारों के चित्रों में उनका समय और समाज गैर-हाज़िर रहा। आगे चलकर इसी परंपरा के साथ, अमृता शेरगिल समकालीन अंतर्वस्तु को जोड़ती हुई 'भारत माता' (चित्र-3 )

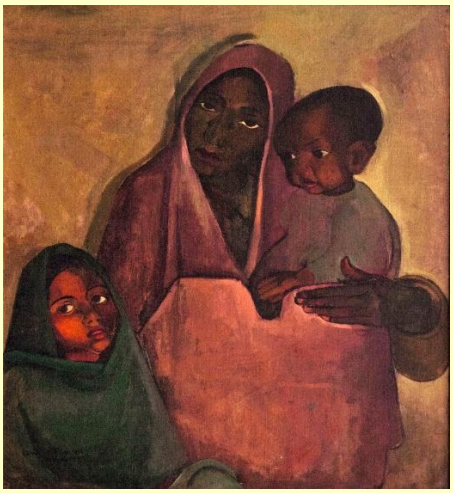

(चित्र – 03)

(चित्र – 04)

जैसा चित्र बना पाती हैं, जबकि अबनींद्रनाथ ठाकुर की 'भारत माता' (चित्र-4) में एक कल्पित कथा को चित्रित करने का प्रयास दिखता है। इन दोनों चित्रों को आस-पास रखकर हम चित्रकला में परंपरा से जुड़ने या उसे नकारने के अर्थ को समझ सकते हैं।

***

किसी भी कला में 'प्रयोग' का एक विशेष महत्त्व होता है और इससे गुजरते हुए ही कला में विकास संभव हो पाता है। लेकिन इसके लिए न केवल प्रयोग का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए बल्कि उसे मौलिक भी होना चाहिए। चालीस के दशक से, भारतीय चित्रकला में व्यापक परिवर्तन दिखाई देने लगे थे। बड़ी संख्या में चित्रकार नए फॉर्म की तलाश में विभिन्न प्रयोग करते दिखे लेकिन लगभग ऐसे सभी प्रयोग न केवल उद्देश्यहीन थे बल्कि यूरोप की कला का कोरा अनुकरण थे। हालाँकि ऐसे अनुकरणों को प्रयोग का नाम देकर भारत के कला समीक्षकों ने इसे स्थापित करने का प्रयास अवश्य किया था।

इसी क्रम में आजादी के बाद प्रयोग के नाम पर पश्चिम की चित्रकला का अनुकरण करते हुए एक नये दौर के रूप में भारतीय चित्रकला में 'अमूर्तन' का आगमन दिखा और शीघ्र ही आम भारतीयों के लिए चित्रकला में अमूर्तन, आधुनिकता का पर्याय बन गया। चूँकि भारतीय कला परंपरा में अमूर्तन का कोई स्थान नहीं था, शहरी बुद्धिजीवियों और कलाप्रेमियों के एक छोटे से वर्ग को

इसके 'नयेपन' ने सहज ही आकर्षित किया।साथ ही, अमूर्त चित्रकला ने भारतीय चित्रकला समीक्षा को एक नया मोड़ भी दिया जहाँ लगभग सभी भारतीय भाषाओं में कवियों ने, अमूर्त चित्रकला की समीक्षा को अपना क्षेत्र मान लिया।चित्रकला समीक्षा के नाम पर ऐसे कवि-समीक्षकों के बीच, कला प्रेमियों को चित्र के अंदर छिपे तमाम अदृश्य तत्त्वों को समझने-समझाने के अभिनव प्रयासों की होड़ सी लग गयी। इन जटिल और दुरूह समीक्षाओं ने न केवल आमजन को चित्र कला से दूर कर दिया बल्कि इसने औसत प्रतिभा वाले चित्रकारों के एक बड़े वर्ग को चित्रकला में महत्त्वपूर्ण बना दिया। संयोग से यह दौर भारत में कला बाजार के विकास का भी था इसलिए भारत के शहरी अभिजात और आर्थिक रूप से संपन्न वर्ग के बीच अमूर्त चित्रकला ने अपना स्थान बना लिया।

भारतीय चित्रकला में ऐसे आधारहीन अमूर्तन ने व्यापक 'पुनरावृत्ति' की भी शुरुआत की। आजादी के बाद की चित्रकला का यह ऐसा पक्ष है, जिसकी आलोचना किसी भी समीक्षक ने नहीं की बल्कि नयी-नयी व्याख्याओं से इसे जायज ठहराने की कोशिश होती दिखी। यह कहना गलत नहीं होगा कि आज लगभग हर सफल भारतीय चित्रकार का अस्तित्व, उसके अपने ही (व्यावसायिक रूप से) सफल चित्रों की बड़ी संख्या में पुनरावृत्ति करने की क्षमता पर टिका हुआ है। ऐसी स्थिति में भारतीय चित्रकला के संदर्भ में प्रयोग और नवाचार कुछ हद तक बेमानी से लगते हैं। किसी रचना के सफल या असफल होने के कई कारण हो सकते हैं लेकिन किसी रचना के लिए मौलिक और ईमानदार होना इसकी प्राथमिक शर्त होती है। साथ ही किसी भी सभ्य समाज में, चित्रकला का लोकतान्त्रिक होना बहुत जरूरी है क्योंकि छोटे से दायरे में बाँधकर किसी भी कलाकार का सही मूल्यांकन संभव नहीं होता। मेट्रो शहरों की कुछ गैलरियों और कुछ एलीट कला शिक्षण संस्थानों तक सीमित रहकर कला को थोड़े समय के लिए मनचाहे ढंग से संचालित किया जा सकता है लेकिन इतिहास में इनका दर्जा एक 'फैशन' से ज्यादा नहीं होता है। किसी समाज में, चित्रकला का निरंतर विस्तार होना एक स्वाभाविक और वैज्ञानिक प्रक्रिया है इसके विपरीत यदि कला का दायरा संकुचित होता दिखे तो इसे अवैज्ञानिक और गैर-लोकतांत्रिक माना जाना चाहिए। भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा, एक ओर लोक और आदिवासी कला से कटा हुआ है तो दूसरी ओर नगरीय कला से अपने को जोड़ने में असमर्थ है। इस प्रकार इस विशाल कला विमुख समाज का निरंतर बड़े होते जाना कलाकारों के लिए गंभीर प्रश्न खड़ा करता है और इसी प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में चित्रकला में 'प्रयोग' और 'नवाचार' को उसे देखना-समझना होगा।